



सिनेमा का सामाजिक संदर्भ (बैंडेट क्वीन के विशेष संदर्भ में)

विजल लाल कन्नौजीय

पीएच डी फिल्म एंड थियेटर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र.



भूमिका

भारतीय सिनेमा अपनी उम्र के सौवें पड़ाव पर है। भारतीय सिनेमा के जनक के रूप में दादा साहब फाल्के द्वारा बढ़ाया गया एक कदम आज मीलों दूरी तय कर चुका है। समय के साथ सिनेमा ने स्वयं में वह सब बदलाव किये जो समय की जरूरत थी। इस पूरे सौ साल के सफर में भारतीय सिनेमा और समाज एकाकार हो गया है। सिनेमा बुनियादी रूप से समाज से अलग नहीं होता। समाज का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव सिनेमा पर पड़ता ही है। कभी फिल्मों के जरिये समाज में बदलाव आये हैं तो कभी सामाजिक बदलावों ने फिल्मों को बदला है। समय के साथ बदलाव होते रहे हैं। सिनेमा चाहे मनोरंजन के लिए हो या व्यवसाय के लिए या कला के

उत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिए उसमें अपने दौर का समाज किसी न किसी रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता। यह अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष और अतिरंजित रूप में भी हो सकती है और प्रत्यक्ष और रचनात्मक रूप में भी।

सिनेमा एक दृश्य श्रव्य माध्यम है। निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि सिनेमा हमारे जीवन की गति को तारतम्य एवं कलात्मक दृष्टि से हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। सिनेमा से जुड़े अधिकांश लोगों के लिए सिनेमा अनुभव और अन्वेषण का माध्यम है। फिल्म एक दृश्य माध्यम है। जब हम फिल्म को पर्दे पर देखते हैं तो जीवन हमें ठीक वैसा ही नजर आता है जैसा कि हम जीते हैं। सिनेमा समाज के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को कई रूपों में कई ढंग से अभिव्यक्त और प्रभावित करता है इसलिए हमें यह देखना चाहिए कि फिल्में किस तरह से और किन रूपों में हमारे सामाजिक यथार्थ को पेश कर रही है।

हिंदी फिल्मों के बारे में आम धारणा यही है कि इनका यथार्थ से कोई वास्ता नहीं है। ये केवल समय बिताने का साधन है, खासकर उनके लिए जो दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद इन फिल्मों से अपना मनोरंजन कर थकान दूर करता है लेकिन क्या यह धारणा सही है? क्या ये फिल्में लोगों के जीवन से कोई सरोकार नहीं रखती हैं? यदि हम किसी भी दौर में बनी फिल्मों पर विचार करें तो यह साफ हो जायेगा कि एक भी फिल्म ऐसी नहीं है जिसका उस दौर के यथार्थ से कोई रिश्ता न हो। लेकिन यथार्थ खुद कोई सीधी और सरल रेखा की तरह नहीं है। समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों, संघर्षों और तनावों से इस यथार्थ का निर्माण होता है और समय के साथ साथ इन संबंधों और संघर्षों का स्वरूप बदलता है, उसी के अनुरूप यथार्थ भी बदलता रहता है। इस निरंतर बदलने वाले यथार्थ को प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्गीय बोध और वैयक्तिक ग्रहण क्षमता के अनुसार समझता और उसमें हस्तक्षेप करता है। सिनेमा इसी रूप में यथार्थ का एक अंग भी है और उसमें एक हस्तक्षेप भी। आज हम जो सिनेमा देखते हैं वह कोई चमत्कार या क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं है बल्कि सिनेमा की खोज एक लंबे वैज्ञानिक अविष्कार का नतीजा है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इस समाज, सभ्यता तथा संस्कृति के साथ कई चीजें जुड़ी हैं इन नई चीजों में समाज संस्कृति तथा सभ्यता को गहराई से प्रभावित करने वाले दुनिया के सर्वाधिक बड़े और अनूठे कला माध्यम सिनेमा का जुड़ना काफी महत्वपूर्ण रहा है।

सिनेमा और समाज में अंतरसंबंध

भारतीय सिनेमा की शुरुआत 21 अप्रैल 1913 को मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के एक विशेष शो के रूप में हुई जिसे भारत का प्रथम हिंदी सिनेमा भी स्वीकार किया गया। इसके बाद लगभग दो दशक तक भस्मासुर, कृष्ण जन्म, नल दमयंती, इत्यादि कई प्रमुख मूक फिल्मों का निर्माण हुआ। इसके कथानक मुख्यतया लोक-माथा, धर्म और इतिहास से जुड़े रहे। अपने शुरुआती काल से ही सिनेमा ने अपने समय और समाज के सवाल को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आरंभिक फिल्मों ने कहीं न-कहीं पारसी के लोकप्रिय थियेटर की जगह लेने की कोशिश की थी। लेकिन यह भी सही है कि मूक फिल्मों के दौरान भी ऐसी फिल्में बनने लगी थी जिनमें सामाजिक यथार्थ और उनके सवालों को केंद्र में रखा गया था। इस काल में बनी फिल्मों का ध्येय मात्र दर्शकों का मनोरंजन करना भर ही नहीं होता था। दादा साहब फाल्के की फिल्मों में मानवीय मूल्यों का दर्शन होता था और वे त्याग, न्याय और सत्य जैसे विषयों को उजागर करती थी। सन् 1924 में बाबूराव पेंटर द्वारा निर्मित ऐतिहासिक फिल्म 'सती पद्मिनी' में देश के लिए मर का आदर्श प्रस्तुत किया गया मितने 1925 में बनी बाबूराव पेंटर की 'सावकारी पाश' इसी तरह की एक महत्वपूर्ण फिल्म थी, जिसकी पृष्ठभूमि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और गांव के सूदखोर साहूकार के आर्थिक शोषणों के बीच भारतीय किसान की त्रासदी पर आधारित थी। बंगाल में उन दिनों बनी फिल्मों में सन् 1921 में बनी फिल्म 'बिलेत फिरे' सामाजिक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से अपना एक अलग स्थान रखती है। उस दौर में जब भारत में अधिकांश धार्मिक कथाओं पर आधारित मूक फिल्मों का निर्माण हो रहा था वैसे समय में इंग्लैंड से लौटकर आये एक युवक की मनः स्थिति को केंद्र में रखकर कथा की रूप रेखा तैयार की गयी, जो समाज के कई खोखले मूल्यों पर आघात करती थी।

जनमाध्यम के प्रबल माध्यम के रूप में फिल्मों का अविर्भाव चालीस के दशक में हुआ। यद्यपि इसके पहले भी सामाजिक विद्रूपताओं पर व्यंग करने वाली फिल्मों का निर्माण निरंतर जारी था। सन् 1932 में देवकी कुमार बोस द्वारा निर्देशित बांग्ला फिल्म 'चंडीदास' प्रदर्शित हुई थी। यह फिल्म सदियों से चली आ रही ब्राह्मण वर्ग की अति रूढ़िवादिता एवं मनमानी की प्रवृत्ति का प्रतिवाद करती है। सन् 1936 में छुआछूत की समस्या पर बनी बॉम्बे टाकीज की फिल्म 'अछूत कन्या' में छुआछूत के अमानवीय कृत्य को बड़ी तीव्रता से उकेर कर उसकी निंदा की गई थी। यह उस समय आसान बात नहीं थी। यह बीसवीं सदी का पूर्वाद्ध था और राष्ट्र इस समस्या से गहराई तक ग्रस्त था। उन दिनों इंसान की उसकी जाति और धर्म के कारण अछूत मानना समाज में व्याप्त परंपरागत रूढ़िवादी चलन और मान्यताओं में सबसे भयावह था। भारतीय समाज में मानवता के प्रति ऐसी नफरत वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत परंपरागत प्रचलन के कारण था जिससे सामाजिक व्यवस्था में बदलाव लाना अत्यंत मुश्किल था। "तीस के दशक में महात्मा गांधी ने सामाजिक उत्थान के लिए समाज में अछूतों की स्थिति के खिलाफ एक देशव्यापी जनआंदोलन की मुहिम छोड़ी जिसे व्यापक जनसमर्थन मिला। फलस्वरूप गांधी के इस जनआंदोलन का असर उस समय के फिल्मों पर भी पड़ने लगा था।" 4 सन् 1934 में वही शांताराम निर्देशित अपने समय की क्रांतिकारी फिल्म 'अमृत मंथन' बनी जिसमें बलि प्रथा का विरोध किया गया था। प्रसिद्ध मराठी उपन्यासकार हरिनारायण आपटे के उपन्यास 'भाग्य श्री' पर आधारित फंतासी कथावस्तु को सामाजिक संदर्भों में आधुनिक रूप से प्रस्तुत किया गया था। 1936 में नारी शोषण और उनके अधिकारों पर आधारित फिल्म 'अमर ज्योति' बनी। 1937 में बेमेल विवाह की समस्या पर आधारित फिल्म दुनिया न माने का निर्माण हुआ। इसमें स्त्री की गरिमा को बहुत ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया गया है। जो लोग यह मानते हैं कि औरत आदमी के पैर की जूती है, उनके गाल पर यह करारे तमाचे की तरह थी। "यह फिल्म उस समय बनायी गयी थी जब नारी स्वतंत्रता जैसा कोई शब्द समाज ने नहीं सुना था।" 5 वातावरण की दृष्टि से भी यह एक यथार्थवादी फिल्म थी।

1940 में महबूब खान ने साहूकारों द्वारा शोषित हो रहे ग्रामीण किसान तथा समाज में औरतों की दयनीय दशा पर केंद्रित फिल्म 'औरत' बनायी जिसमें भारतीय कृषक जीवन और स्त्री के ऊर्जावान संघर्ष को अत्यंत आत्मीयता पूर्वक चित्रित किया है। इसी तरह 1940 में ही 'अछूत' नाम से एक फिल्म बनी, जिसमें ऊँची जातियों की रूढ़िवादिता पर तीखे प्रहार किये गये थे। फिल्म का यह संदेश था कि जन्म से ना कोई बड़ा होता है और ना ही कोई छोटा। गांधी के हरिजनोद्धार से प्रेरित यह फिल्म गांधी के सोच से आगे तक जाती थी। जिस समय गांधी का अधिक जोर समाज में छुआछूत मुक्ति और मंदिरों में हरजिनों के प्रवेश तक ही सीमित था उस दौर में यह फिल्म सवर्ण और अवर्ण जातियों के बीच विवाहेतर संबंध स्थापित करने की बात करती है। लेकिन उस दौर की फिल्मों की भी एक सीमा थी जिसमें वह जातिवाद के सवाल को सामाजिक दायरे में ही देखती है। उसके आर्थिक और राजनीतिक पक्ष की उपेक्षा करती है। सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं को देखने व पर्दे पर उतारने का वही शांताराम और महबूब खान का अंदाज एकदम अलग था। शांताराम का सिनेमा मनोरंजन के पहले सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र है।

15 अगस्त 1947 को देश आजाद हुआ। स्वतंत्र भारत ने अपने भविष्य के सुनहरे सपनों के ताने बाने बुनने शुरू कर दिये थे। समय के बदलते तेवरों के साथ साथ सामाजिक रूढ़िवादी विचारों, रहन सहन और राष्ट्रीय स्तर पर युवाओं की सोच में होते बदलाव की झलक स्वतंत्रता के बाद की फिल्मों पर दिखाई देने लगी थी। 1951 में वी.आर. चोपड़ा ने फिल्म 'अफसाना' बनाई। फिल्म में अमीर और गरीब दो

परिवारों के जरिये स्वतंत्रता के बाद तेजी से भौतिकवादी बनते हुए सामाजिक परिवेश के अंतः कलह को दर्शाया गया। तत्पश्चात् उन्होंने फिल्म 'आवारा' बनाई। 1953 में बनी हिंदी फिल्मों में एक ओर 'अनारकली' और 'झांसी की रानी' जैसी ऐतिहासिक फिल्में बनी तो दूसरी ओर तत्कालीन भारतीय समाज में चरमराती अर्थव्यवस्था और रोजगार के लिए महानगरों में पलायन करती जिंदगी की त्रासदी पर आधारित एक संवेदनशील फिल्म 'दो बीघा जमीन' भी देखने को मिलती है। आजादी के बाद भारतीय हिंदी सिनेमा की यह पहली ऐसी सशक्त फिल्म थी जो तत्कालीन भारत की ग्रामीण सामाजिक अर्थव्यवस्था, जमींदारों द्वारा छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों द्वारा आर्थिक शोषण किये जाने से उत्पन्न समस्याओं से जुझने की भावना पर आधारित थी और यह प्रथम भारतीय 'नियो रियलिस्ट' फिल्म थी।

इसी कड़ी को और मजबूती प्रदान की महान् बांग्ला फिल्मकार सत्यजीत रे ने। 1954 में 'पाथर पांचाली' के साथ ही उन्होंने सिनेमा को एक नयी दृष्टि प्रदान की। उनकी फिल्मों में लगातार सामाजिक यथार्थ को बखूबी देखा गया। रे ने अपनी फिल्मों में उन सभी सामाजिक पहलुओं का चित्रण किया जो समाज में अभिशाप थी, चाहे वह बेरोजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार जैसी तत्कालिक समस्या हो या समाज में स्त्रियों की स्थिति। इस तरह तमिल, मलयालम, कन्नड़, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मराठी इत्यादि तमाम क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्मों ने भाषाई अवरोधों को पारकर भारतीय समाज की प्रगति एवं विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस कड़ी को आगे बढ़ाते हुए मणिकौल, वासु चटर्जी, एम.एस. सथ्यू, श्याम बेनेगल इत्यादि फिल्मकारों ने भारतीय समाज में व्याप्त जड़ता एवं कुरीतियों को बहुत ही सूक्ष्मता से अपनी फिल्मों में उकेरा। वासु चटर्जी का 'सारा आकाश', मणिकौल की 'उसकी रोटी', श्याम बेनेगल की 'अंकुर' 'भूमिका', 'निशांत', एम.एस. सथ्यू की 'गर्म हवा' इत्यादि फिल्मों ने भारतीय समाज में निहित जटिलताओं और उसके यथार्थ को बखूबी पर्दे पर चित्रित किया।

1957 में बनी कालजयी फिल्म मदर इंडिया ने सबको झकझोर दिया। देश को आजाद हुए अभी पूरे एक दशक भी नहीं हुए थे और भारतीय संस्कृति की यह अनुगूँज विश्वपटल पर छा गयी कि भारतीय औरत अपना सब कुछ गवां सकती है पर अपनी आबरू पर भारी संकट के समय भी आँच नहीं आने देती। फिल्म में गाँव का चित्रण ही आगे चलकर भोजपुरी सिनेमा की नींव रखता है। अमर्त्य सेन गरीबी, भूख और अकाल को अशिक्षा के साथ जोड़ते हैं। 'मदर इंडिया' में अकाल नहीं है पर भयावह गरीबी है, भूख है और बाढ़ से उपजी तबाही है। किसान लगभग अनपढ़ है। आज आजादी के छह दशक बाद भी तो यही स्थिति है। अन्यथा आज हजारों किसान आत्महत्या क्यों करते? सरकार ने किसानों का साठ हजार करोड़ रुपए का ऋण माफ कर दिया जो उन्होंने बैंकों से लिया था, पर किसान फिर भी आत्महत्या कर रहे हैं। क्यों? सरकार को शायद ये पता नहीं कि छोटा और सीमांत कृषक बैंकों से ऋण नहीं लेता, बैंकों की भव्य इमारतों तक उनकी पहुँच ही नहीं है। अनपढ़, गरीब, किसान तो गाँवों के महाजनों से साहूकारों से ऋण लेते हैं और एक बार इनके चंगुल में फँस जाने के बाद जाल में फँसी मछली की तरह तड़फड़ाते रहते हैं। आजादी के बाद गांधीवादी मूल्यों तथा आदर्शों को उपासना तथा प्रदर्शन की चीज मानकर विज्ञापन की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा किंतु गृह उद्योग के बदले बड़े बड़े कारखाने बनते रहे। नेहरू युग में भारत में तीव्र गति से औद्योगीकरण आरंभ हुआ।

भारतीय समाज में निहित जटिलताओं को कहीं ज्यादा सूक्ष्मता से चित्रित उन फिल्मकारों ने किया है जिन्होंने यथार्थवादी परंपरा से अपने को जोड़ा है। सत्तर के दशक की शुरुआत से ही फिल्मों की दो धाराएँ फूटीं। एक तरफ बड़ी बड़ी बजटों की आम लोगों के रंग बिरंगे सपनों को सँजोए हुए नाच गाना, प्रेम कहानियों और मारपीट से भरपूर फिल्में बनती रहीं तो दूसरी तरफ अब लोगों के जीवन पर देश की विकराल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से प्रभावित और यथार्थवादी कथानकों पर केंद्रित सार्थक कला फिल्में शामिल थीं। 1970 के लगभग भारतीय सिनेमा में यथार्थवाद की जो नयी लहर उभरी उसने दलित समाज की समस्याओं को भी अपना विषय बनाया। अगर हम उस दशक की कुछ फिल्मों का विवेचन करें तो हम इस बात को आसानी से समझ सकते हैं ये फिल्में दलितों के सवाल को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखती हैं। फिल्म 'अंकुर' में दलित स्त्री की आर्थिक पराधीनता का लाभ उठाकर उसका शारीरिक शोषण करने वाले जमींदार के खिलाफ फिल्म में व्याप्त गुस्सा किसी विद्रोह में तो परिणति नहीं होता लेकिन एक छोटे बच्चे द्वारा जमींदार के घर पर पत्थर फेंकना उस भविष्य की ओर जरूर संकेत करता है कि नयी पीढ़ी हर घर का काँच तोड़ देगी। "दलित सवाल के इतने जटिल और अंतर्विरोधी पहलुओं को छूने की कोशिश इस बात का प्रमाण तो है ही कि हिंदी सिनेमा की प्रगतिशील धारा सामाजिक न्याय के सवाल को भी उतना ही महत्व देती रही है, जितना कि समाज से जुड़े अन्य सवालों को। इससे प्रभावित होकर क्षेत्रीय फिल्मों ने भी इन्हीं फिल्मों की तर्ज पर दलित सवालों को केंद्र में रख कई फिल्मों का निर्माण किया।

साठ से सत्तर के बीच तक सिनेमा पर व्यावसायिकता का प्रभाव दिखने लगा था। यह दौर मधुर संगीत का दौर था 'मुगले आजम', 'साहिब बीवी और गुलाम' 'तीसरी कसम' आदि कुछ महत्वपूर्ण फिल्में रहीं। इस दशक में एक ओर जहाँ सिनेमा का व्यावसायिक चेहरा ज्यादा उभरा वहीं यथार्थ फिल्मों को भी खूब लोकप्रियता मिली।

1970 के बाद सिनेमा के कथानक में तेजी से परिवर्तन होने लगा था जो आने वाले दशकों में और मुखर होकर सामने आयी। कर्णप्रिय संगीत से सजी साफ सुथरी पारिवारिक मनोरंजक फिल्मों में दर्शकों की अभिरुचि बढ़ने लगी और सिनेमा भी परिवर्तित होने लगा। 'बाबी', 'दाग', 'जंजीर' जैसी व्यावसायिक फिल्मों का निर्माण हुआ। 1980 से 90 तक हिंदी सिनेमा व्यावसायिकता से पूरी तरह शराबोर हो चुका था यद्यपि 'सारांश', 'अर्धसत्य', जैसी महत्वपूर्ण फिल्में छिट पट आती रही। बीसवीं सदी का अंतिम दशक मेलोडी की वापसी और पारिवारिक फिल्मों के लिए याद किया जाता है। 'मैंने प्यार किया', 'दिलवाले दुल्हनियां ले जायेंगे', 'बांबे', 'रोजा' जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ तो वही 'बैंडिट क्वीन' जैसी यथार्थ फिल्म भी पर्दे पर आयी। 'बैंडिट क्वीन' अपनी समग्रता में कटे हाथों वाली उस कलात्मक मूर्ति की तरह है जिसे आर्ट गैलरी में रख दे तो वह काला का उत्कृष्ट नमूना लगती है और खुली नालियों में धूकने वाली जनता की बीच चैराहे पर रख दे तो उसे कपड़े से ढकने का मन होता है।

21 वीं सदी का हिंदी सिनेमा पूरी तरह परिवर्तित हो चुका है मसाला फिल्मों के साथ साथ प्रयोगधर्मी लोग भी अपनी प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। यही वजह है कि एक तरफ जहाँ मुख्य धारा की फिल्मों में 'कभी खुशी कभी गम', 'गदर', 'बंटी बबली' जैसी फिल्में बन रही थी तो वहीं दूसरी तरफ अर्थपूर्ण व्यावसायिक सिनेमा को प्रस्तुत करती फिल्म 'जुवैदा', 'चादनी बार', 'ब्लैक', 'लगान', 'पेज थ्री', 'गंगाजल' जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ। नये दौर की फिल्मों ने भी समय समय पर समाज में उपजी समस्याओं तथा जड़ता को बहुत ही सूक्ष्मता से पर्दे पर उकेरा है। जहाँ 'फायर' में समलैंगिकता के बहाने समकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति पर सवाल उठाया गया, वही एक तरफ फिल्म 'वाटर' के जरिये विधवाओं के दर्द एवं जीवन गाथा को लोगों के बीच पहुँचाने की कोशिश की गयी तो 'बागवान' जैसी फिल्म के जरिये संयुक्त परिवार के टूटते बिखरते मूल्यों से लोग रूबरू हुए। गांव के चित्रण एवं ब्रिटिश सरकार को केंद्र में रख फिल्म 'लगान' बनी। जनमानस की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए जहाँ परिवार एवं पारिवारिक मूल्यों पर आधारित 'विवाह' जैसी फिल्मों का निर्माण निरंतर जारी रहा, तो 'श्री इंडियट' जैसी फिल्मों के माध्यम से आधुनिक शिक्षा प्रणाली पर जबर्दस्त प्रहार किया गया।

यूँ तो सिनेमा शुरू से ही एक बहस का विषय रहा है। वर्गीकरण की दृष्टि से सिनेमा को दो विचार धाराओं के लोगों ने प्रभावित किया। एक वर्ग इसे मनोरंजन का माध्यम मानता है तो दूसरा वर्ग इसे कला एवं समाज के लिए संदेश देने का सबसे सशक्त माध्यम मानता है। 'फिल्म की कोई भी कथा चाहे कितनी भी काल्पनिक क्यों न प्रतीत होती हो उसकी पृष्ठभूमि में एक वास्तविक समाज और मनुष्यों के वास्तविक रिश्ते होते हैं। फिल्मों का उद्देश्य भले ही हमेशा मनोरंजन रहा है लेकिन समसामयिकी सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ और उसके प्रभाव शुरू से ही फिल्मों में अभिव्यक्त होते रहे हैं।

बैंडिट क्वीन फिल्म का कथानक

मैं ही फूलन देवी हूँ बहनचो.....। फूलन देवी के जीवन पर आधारित शेखर कपूर की फिल्म बैंडिट क्वीन सिर्फ आँखों को ही नहीं आंखों के जरिये दिल और दिमाक तक पहुँचाने वाले रास्ते की भी मांग करती है। फिल्म के पहले दृश्य में नाव में गाँव के लोगों का आना और फूलन का अपने सहेली के साथ चलते चलते माँ बहन की गालियों में बात करना एक समुदाय विशेष एवं उस परिवेश के सामाजिक तानें बाने को बखूबी बयान करता है। फिल्म की पटकथा पूरी तरह से एक अव्यवसायिक काला फिल की पटकथा है। शुरू के लगभग आधे घंटे में यह एक वित्तचित्र होने का आभास देती है। फिल्म के पहले दृश्य में एक बड़ी सी नाव में गाँव के बड़े भुठे बच्चे आ रहे हैं। नाव धीरे धीरे किनारे आ लगती है। फूलन का मल्लाह जातीय का होना यहाँ स्थापित होता है। फूलन चलते चलते अपने सहेली से बात करती है। हर दूसरे वाक्य में माँ बहन की गलियाँ चस्पा हैं। उसकी सहेली गली का मतलब पूछती है। गली का मतलब ग्यारह साल की बच्ची फूलन को नहीं मालूम, पर मतलब 'अच्छा ही होइएगा' क्योंकि उसने गाँव में सभी को, बाबा को भी, इसी तरह बातें करते सुना है। भारतीय सिनेमा में दृश्य और संवाद का ऐसा समन्वय बहुत कम ही फिल्मों में देखने को मिलता है। यह एक अद्भुत पक्ष है जहाँ सिर्फ एक दृश्य और सिर्फ दो संवाद से फिल्म की पूरी पृष्ठभूमि तैयार हो जाए। दर्शक के दिमाक पर लगने वाला यह पहला झटका फिल्म के अंत तक उन्हें कूदेरता है। इस तरह का सायोंग पचास के दशक में बनी सत्यजित राय की फिल्म 'पाथेर पांचाली' में देखने को मिलता है। सत्यजित राय का मानना था कि फिल्म एक दृश्य श्रब्य माध्यम है। और फिल्म में संवाद का जहाँ अपना महत्व है वहीं दृश्यों में निहित प्रतिनिधिकताओं का संबंध मानव अनुभूतियों से होता है जिसको समझना किसी भी भाषाई जातीय या क्षेत्रीय समुदाय के लिए कठिन नहीं होता।

बैंडिट क्वीन की सामाजिक विषय वस्तु

फूलन देवी के जीवन के इन अध्यायों में से कुछ हिस्सों को चुनकर अगर राय बनाई जाएगी तो निश्चय ही वह राय मुकम्मल नहीं होगी। अगर किसी की दृष्टि में फूलन का डाकू होना, लूटपाट और हत्याएं करना ही सत्य है तो वह उनकी नजर में एक कुख्यात डाकू से ज्यादा कुछ नहीं होगी। जाहिर है तब फूलन की जगह जेल की सलाखों के पीछे ही होनी चाहिए। लोकसभा की कुर्सी पर बैठने का अधिकार तो इसे

कदापि नहीं मिलना चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि उसने दसियों लोगों की हत्याएं की, कई निर्दोष स्त्रियों को विधवा बनाया, बच्चों को अनाथ किया। ऐसी क्रूर, पाशविक कृत्य करने वाली स्त्री के प्रति किसी तरह की सहानुभूति और समर्थन क्या न्यायोचित है? तीसरा दृष्टिकोण यह हो सकता है कि उसने जिस जाति विशेष के लोगों की सामूहिक हत्या की, उनके प्रति जातीय आधार पर द्वेष, वैमनस्य और शत्रुता रखने के कारण वह घृणित रूप से जातिवादी भी है और जातिवादी स्त्री को इस तरह प्रोत्साहित करना जातिवाद को बढ़ावा देना है और इससे विभिन्न जातियों के बीच नफरत और शत्रुता में बढ़ोतरी ही होगी।

जहिर है कि फूलन के प्रति इन तीनों तरह के दृष्टिकोणों में फूलन के जीवन को न तो पूर्णता में देखा गया है और न ही हमारे समाज के सामाजिक-आर्थिक हालातों में रखकर इन घटनाओं का विरूपण किया गया है। निश्चय ही हत्या, लूटपाट अपराध है। निर्दोष लोगों की हत्या करना पाशविक क्रूरता है और जातिवादी घृणा को प्रोत्साहन देना भी किसी भी दृष्टि के कम जघन्य नहीं है। परंतु ये सभी बातें संदर्भों से काटकर देखना खुद इसी तरह की या इनसे भी ज्यादा पाशविक और घृणित अपराधों पर पर्दा डालने की कोशिश हो सकता है। और एक सभ्य समाज सच्चाई के सिर्फ एक पहलू को देखकर, बाकी पहलुओं की उपेक्षा करता है तो वह समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को बढ़ावा ही दे रहा होता है। दुर्भाग्य से फूलन के मामले में मीडिया और दूसरे निहित स्वार्थों का दृष्टिकोण ऐसा ही पूर्वग्रहपूर्ण रहा है। एक भूमिहीन, निम्न जाति के ग्रामीण परिवार में पैदा हुई लड़की जिसे कभी स्कूल जाने का मौका न मिला हो, जिसे जन्म से ही गालियां, ठोकरें, भूख और प्रताड़ना ही सहनी पड़ती हों, उससे ऐसे किसी प्रतिरोध की उम्मीद कैसे की जा सकती है, जो कानून के दायरे में हो जबकि हमारे जनतंत्र की कोई भी-संस्था-फूलन-और फूलन जैसी स्त्रियों और उनके परिवारों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने में न सिर्फ अक्षम है बल्कि आम तौर पर देखा यह गया है कि ये संस्थाएं (पुलिस, पंचायत, जन प्रतिनिधि, न्यायपालिका) इन अत्याचारों में खुद भी शामिल रहती हैं।

फूलन के जीवन की विडंबना यह है कि उस पर होने वाले हर अत्याचार में इन संस्थाओं की भूमिका कम निंदनीय नहीं रही है। पंचायत ने उसे 'बदजात' कहकर गांव छोड़ने पर मजबूर किया। पुलिस वालों ने बलात्कार किया और 'ऊंची जाति' के शक्तिशाली लोगों ने कई-कई दिन तक बलात्कार द्वारा और गांव में नंगा घुमाकर अपमानित किया। फूलन पर जब ये अत्याचार हो रहे थे, तब किसी अखबार ने, किसी न्यायपालिका ने, किसी जन प्रतिनिधि ने, सी सामाजिक और राजनीतिक संस्था ने फूलन की खोज खबर नहीं ली। लेकिन जैसे ही फूलन ने बंदूक उठाई, फूलन ने एक ही दिन में, एक ही गांव के दसियों लोगों को गोलियों से भून डाला तो एकाएक वह साधारण और बेबस औरत 'असाधारण' और 'दुर्दमनीय' हो गई।

फूलन ने शायद अपने जीवन की त्रासदी से यही सबक लिया था कि सत्ता हासिल किए बिना सत्ता के दमन से नहीं बचा जा सकता। लेकिन 'सत्ता किसके लिए' द का कोई सुविचारित राजनीतिक सबक सीखने का मौका उसे नहीं मिला था। इसीलिए उसने सत्ता को बंदूक और पैसे की ताकत के रूप में ही ग्रहण किया। एक हद तक फूलन का सोच सही भी था क्योंकि जिनके दमन की शिकार वह हुई थी उनके पास इन्हीं दो ताकतों पर टिकी सत्ता थी। फूलन ने डाकू बनकर इसी सत्ता को हासिल करने की कोशिश की। निश्चय ही यह आसान काम नहीं था। बीहड़ों के बीच का जीवन किन्हीं लोकतांत्रिक असूलों पर टिका नहीं होता। वहां पर अपनी निरंकुश सत्ता की धाक जबरन मनवानी होती है। जातियों में बंटे हमारे समाज में जहां डाकूओं के गिरोह भी जातियों के आधार पर पनपे हों, वहां एक 'निम्न जाति' की, और वह भी औरत के लिए अपना डाकू गिरोह खड़ा करना और उसकी सरदार बनना फूलन के लिए कम चुनौतीपूर्ण नहीं रहा होगा। लगभग वही नामुमकिन काम फूलन ने कर दिखाया था। अगर पिछले दस-पंद्रह सालों में बनने वाली हिंदी की व्यावसायिक फिल्मों को देखें तो जिस मजलूम और मजबूर नायक को दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध 'महानायक' बनकर लोहा लेता पाते हैं और जिसे फैंटेसी मानकर सहज मनोरंजन की वस्तु समझकर भूल जाते हैं, फूलन ने लगभग वही 'महानायकत्व' अपने वास्तविक जीवन में घटित करके दिखा दिया था। यह महानायकत्व उसके दस्युरानी होने में भी निहित था और अब सांसद बनने में भी। इन दोनों मामलों में कितना अंश खुद फूलन का था और कितना परिस्थितियों का, यह विवाद का विषय हो सकता है। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि फूलन का 'बैंडिट क्वीन' बनना लगभग वैसी ही फैंटेसी थी जैसी फिल्मों की फैंटेसी होती है। लेकिन फूलन की जिंदगी फैंटेसी नहीं थी, हकीकत थी, एक ऐसी हकीकत जो हमारे सामने, हमारे बीच में जिंदा मौजूद है।

फिल्मी फैंटेस-सा फूलन का यथार्थ फिल्म की स्क्रीन पर पेश यिका जए यह इच्छा कोई गरर माममूली नहीं थी। लेकिन फूलन के जीवन को हिंदी की लोकप्रिय सिनेमा की शैली सिनेमा की शैली में पेश करने का नतीजा शायद यही होता कि फूलन का यथार्थ एक अयथार्थ और मनोरंजन फैंटेसी बनकर रह जाता।

यह अपरिचित शैली कम से कम विश्व सिनेमा के लिए उतनी अपरिचित नहीं थी। खासकर यूरोप का सिनेमा यथार्थ को पेश करने के मामले में कहीं ज्यादा बोल्ड कहा जा सकता है और इस दृष्टि से इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस शैली को अपनाते के पीछे यूरोप और अमरीका का बाजार भी रहा हो, जिनमें ऐसी फिल्म की खपत ज्यादा आसान हो। यहां यह कहना ठभ्नी जरूरी है कि फूलन के जीवन में एक खास तरह की दिलचस्पी यूरोप और अमरीका में शुरू से रही है। विदेशी पत्रकारों द्वारा फूलन के जीवन पर लिखना,

अंग्रेजी भाषा में लिखी फूलन की जीवनियों की बड़े पैमाने पर बिक्री इसी सच्चाई को बताती है। जीवन से भी विशाल फूलन की जिंदगी के सच को सही सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की चुनौती इन सब जटिलताओं के रहते और भी गहनतर हुई होगी। शेखर कपूर की फिल्म इन जटिलताओं को लिए दिए ही उक्त चुनौती को स्वीकार करती है, उससे बचकर निकलने की कोशिश नहीं करती।

कुछ बुनियादी सवालों को लें। जमीन का सवाल, जातिवादी उत्पीड़न का सवाल, स्त्री की अस्मिता का सवाल, व्यवस्था के दमन का सवाल-इन सभी सवालों को फूलन के जीवन की नाटकीय और अयथार्थ सी लगने वाली घटनाओं में से पूरी ताकत से उभारकर हमारे सामने पेश कर देना आसान काम नहीं था। शेखर कपूर ने इसी मुश्किल काम को करने की कोशिश की और ऐसा करते हुए 'सच' को ठीक उसी प्रकृत रूप में, नग्न रूप में प्रस्तुत किया, जैसी वे सचमुच घटी होंगी। यथार्थ का यह भयावह चित्रण क्या ठीक इसी शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है? क्या कोई बेहतर सृजनात्मक तरीका नहीं हो सकता था? संभव है हो। लेकिन अगर बेहमई के हत्याकांड के पूरे अर्थ को लोगों तक पहुंचाना है, अगर ग्यारह वर्ष की मासूम फूलन के दस्युरानी फूलन बनने की त्रासद गाथा का दहलाने वाला एहसास कराना है तो फूलन ने जो कुछ भोगा था, उसकी तीव्रता को थोड़ा भी कम करना धातक हो सकता था। आमतौर पर औरत को नंगा कर घुमाना, और उसके साथ सामूहिक बलात्कार जैसे कृत्यों के पीछे छिपी पाशविकता और स्त्री की यंत्रणा दोनों का एहसास इतना भांथरा हो गया है कि ये बातें हमारे लिए महज एक खबर, फिल्म के कथानक का एक नाटकीय मोड़ होकर रह जाती हैं। जबकि किसी भी स्त्री के लिए यह कितनी बड़ी यंत्रणा है, शेखर कपूर ने इसी यंख्या की आंच हम तक पहुंचाने की कोशिश की है। इसलिए सवाल यह नहीं उठता कि बेहमई जैसे कांड क्यों। बल्कि सवाल उठता है कि फूलन और बेहमई दानों को बनाने वाली यह व्यवस्था क्यों? निश्चय ही इसका जवाब फूलन के जीवन में नहीं है। क्योंकि फूलन तो खुद सवाल बनकर उपस्थित है। सवाल का जवाब देना किसी कलाकार का काम भी नहीं है। लेकिन सवालों को सही परिप्रेक्ष्य में रख देना जवाब की दिशा में उठाया गया एक अहम कदम हो सकता है।

शेखर कपूर 'बैंडिट क्वीन' के माध्यम से यही कोशिश करते हैं। बेहमई कांड से पहले तक फूलन पर होने वाले अत्याचारों पर वैसी ही चुप्पी है जैसी चुप्पी की चर्चा मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' है। लेकिन जैसे ही बेहमई का कांड घटित होता है, संसद की दीवारें हिल जाती हैं, फर्जी एनकाउंटर्स के नाम पर हत्याएं आरंभ हो जाती हैं। फूलन के एक-एक कर सभी साथी पुलिस के हाथों मारे जाते हैं। वे ही ताकतवर लोग जिनके कारण फूलन को 'बैंडिट क्वीन' बनाना पड़ा, पुरी व्यवस्था उनकी चाकरी में मौजूद है और फूलन पुलिस की गोलियों से बचती, लुकती छिपती फिर रही है और आखिर हथियार डालकर आत्मसमर्पण कर देती है, उसी व्यवस्था के आगे जिसका प्रतिशोध लेते हुए फूलन इस मुकाम पर पहुंची थी।

निष्कर्ष

सिनेमा की शुरुआत के कुछ ही दशक बाद लोगों ने इसे समाज का आईना बना दिया। यह बात एक हद तक सही भी थी। जिस तरह से फिल्मों ने रूढ़िवादी समाज में परिवर्तन लाने, जनचेतना को जागृत करने तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करने में प्रमुख भूमिका अदा की उसने एक बात तो तय दी कि सिनेमा हमारे सामाजिक व्यवहार का एक अपरिहार्य अंग है। लेकिन आज सिनेमा के स्वरूप और चरित्र में गुणात्मक बदलाव आया है। पूरी की पूरी सिनेमा इंडस्ट्री एक ऐसे विषचक्र में फंसी है जहां पूंजी के लोभ में सरोकार पीछे छूटता जा रहा है। यह अकारण नहीं कि फिल्मों से गंभीर सामाजिक व सांस्कृतिक बहस खत्म होते जा रहे हैं। आज सिनेमा समाज का आईना नहीं बल्कि आईने के पीछे का वह हिस्सा बन गया है जहां कुछ दिखता ही नहीं। ऐसे में फिर से हमें सिनेमा को पढ़ने और समझने के लिए पिछले दौर की कुछ फिल्मों और निर्देशकों को टटोलना पड़ता है जिसने सिनेमा को देखने के लिए एक नई दृष्टि प्रदान की। आज पूरा भारतीय सिने संसार सिनेमा के सौ साल का उत्सव मना रहा है। पत्र, पत्रिकाएँ व सभी चैनल्स सिनेमामय हो गए हैं। आज के सामाजिक परिवेश में इसकी बड़ी श्रेष्ठता है। लोग इसे विश्वस्त मानते हैं। भारतीय सिनेमा जगत फिल्म निर्माण के मामले में पूरी दुनिया को पीछे छोड़ चुका है। एक ऐसे समय में जब सिनेमा का इतने बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है। राष्ट्रीय जीवन तथा पूरी दुनिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार में इसकी भूमिका को नकारना असंभव हो गया है। यह विडंबना ही है कि अधिकांश बुद्धजीवी और संस्कृतिकर्मी वर्तमान की अपेक्षा सिनेमा के पिछले कुछ दौर को ज्यादा सुकून भरे नजरिए से देखते हैं।

कुल मिला कर यह फिल्म अपने में समग्र है। तथा यह फिल्म उस कटे हाथों वाली कलात्मक मूर्ति की तरह है, जिसे आर्ट गैलरी में रख दें, तो वह कला का उत्कृष्ट नमूना लगती है और खुली नालियों में थूकने वाले जनता के बीच चौराहे पर रख दें, तो उसे कपड़ों से ढकने का मन होता है।

संदर्भ :

- हिंदी सिनेमा का समाज शास्त्र पार :ख, जवरीमल्ल, ग्रंथ शिल्पी प्रालिमिटेड ., दिल्ली, प्रथम सस्करण-2006, पृष्ठ-13

- लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ पारख जवरीमल्ल ;, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ-41
- भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रासिन्हा प्रसून ;, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृष्ठ-91 वही ,पृष्ठ-88
- प्रगतिशील वसुधा, हिंदी सिनेमा विशेषांक-81, (संस्वयं प्रकाश (., राजेन्द्र शर्मा, भोपाल, पृष्ठ-58
- प्रगतिशील वसुधा-हिंदी सिनेमा विशेषांक :81, (संस्वयं प्रकाश (., राजेन्द्र शर्मा, भोपाल, पृष्ठ-104
- लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ पारख ;, जवरीमल्ल, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ-125
- प्रगतिशील वसुधा, हिंदी सिनेमा विशेषांक-81, (संस्वयं प्रकाश (., राजेन्द्र शर्मा, भोपाल, पृष्ठ-453
- हिंदी सिनेमा का समाज शास्त्र पारख ;, जवरीमल्ल, ग्रंथ शिल्पी प्रालिमिट .ेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृष्ठ-34
- <http://www.samaylive.com/article-analysis-in-hindi/137088/information-and-technology-earth-mass-media-fourth-estate.html>